सम्प्रदाय और सत्य

साम्प्रदायिक दृष्टि और सत्य दृष्टिका क्या अर्थ है, इन दोनोंके बीचमें क्या भेद है और साम्प्रदायिक दृष्टिके स्थानमें सत्य दृष्टिके शिक्षण पोषण और विकासकी कितनी आवश्यकता है, यह सब शिक्षितोंके लिए जानना अत्यावश्यक है। शिक्षित ही सामान्य लोकवर्गके प्रतिनिधि होनेके कारण मार्गदर्शक बन सकते हैं। यदि वे इसका यथार्थ एवं असाधारण ज्ञान रखते हों तो अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनवर्गको विश्वकी, राष्ट्रकी और जातिकी एकताकी ओर अपने असाधारण प्रयत्नसे ले आ सकते हैं और अयोग्य मार्गसे उनकी चित्तवृत्तिको पराङ्मुख करके योग्य दिशाकी ओर प्रवृत्त कर सकते हैं।

बेक्टिरिया जैसे सूक्ष्मतम जन्तुओं और इतर प्राणियोंमें भी अभेदकी भूमिका है; किन्तु वह आदर्श नहीं है क्योंकि यह भूमिका ज्ञान अथवा बुद्धिसाधित नहीं, अज्ञानमूलक है। इसमें भेदके ज्ञानका अभाव तो है पर अभेदका ज्ञान नहीं है। मनुष्यत्वका आदर्श अभेदका है किन्तु वह अभेद ज्ञानमूलक है। बुद्धि, विचार और समझपूर्वक अनुभवगम्य एकता ही मनुष्यत्वका शुद्ध आदर्श है। भेदोंकी विविधताओंका भान होनेपर भी उससे ऊपर उठकर जितने अंशमें दृष्टि अभेद, एकता या समन्वयको अनुभवगम्य कर सकेगी उतने अंशमें कहा जाएगा कि वह मनुष्यत्वके आदर्शके नजदीक पहुँची। इस आदर्शमें केवल आध्यात्मिकता ही नहीं किन्तु शुद्ध एवं सुखावह व्यावहारिकताका भी सामंजस्य है। प्राणिमात्रके प्रति आत्मौपम्यकी दृष्टि, समग्र विश्वमें परस्पर भ्रातृभाव और विशुद्ध राष्ट्रीयता, ये सभी उक्त आदर्शके जुदे जुदे और भिन्न भिन्न कक्षावाले स्वरूप हैं, अंग हैं।

अहंकार, अज्ञान और विपरीत समझसे मनुष्य-जातिने आदर्शको छोड़कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल उन्मार्गका अवलम्बन ही नहीं किया है किन्तु बहुत-सी बातोंमें तो प्रतीत होता है कि उसने अपने आदर्शको चकनाचूर कर डाला है। देशभेद, जातिभेद, भाषाभेद, आचारभेद और संस्कारभेद, ऐसे अन्य अनेक भेदोंकी भावनाओंको प्रमाणसे अधिक आश्रय देकर उसने एकताके साधनकी कितनी हत्या कर डाली है, यह मनुष्य जातिके इतिहासके अभ्यासियोंसे कहनेकी अवश्यकता नहीं। हममें जाने अनजाने साम्प्रदायिक भेद बुरी तरहसे किस प्रकार घर कर लेता है, उससे व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय दृष्टिसे कैसे कैसे बुरे परिणाम होते हैं और उन परिणामोंसे बचनेके लिए किस दृष्टिकी आवश्यकता है इसकी चर्चा कर लेना आवश्यक जान पड़ता है।

अन्य पंथों और संप्रदायोंका संस्कार रखनेवाले इतर व्यक्तियोंका मुझे चाहे जितना अनुभव हो फिर भी वह स्वपंथ और स्वानुभवकी दृष्टिसे धुँधला ही होगा, अतएव मैं यद्यपि यहाँपर जैन पंथ या जैन संप्रदायको लक्ष्य करके स्वानुभूत जैसा चित्र खींचता हूँ किन्तु प्रत्येक पाठक उसे अपना ही चित्र मान कर, उसकी भिन्न भिन्न घटनाओंको अपनी अनुभूत घटनाओंके साथ तुलना करके इस चित्रको साधारण रूप दे तो प्रस्तुत चर्चाके समझनेमें बहुत सरलता हो सकती है।

जन्मके प्रारम्भिक कालमें जब एक बालक माँकी गोदमें क्रीड़ा करता है तभीसे वह स्तनपान और बाल-जगतके अवलोकनके साथ साथ अनजाने ही साम्प्रदायिक संस्कार संग्रह करने लगता है। थोड़ी-सी बड़ी अवस्था होनेपर वे संस्कार "जय जय" "राम" "भगवान्" आदि सरल शब्दोंमें व्यक्त होते है। माँ बाप आदि बालकसे धर्म-शब्दका उच्चारण करवाते हैं। बालक भी अनुकरण करता है। फिर उसकी ग्रहण और उच्चारण शक्तिके बढ़ते ही उससे "जैनधर्म" आदि शब्द उच्चारण करवाये जाते हैं। थोड़े ही समयमें बालक अपनेको अमुक धर्मका कहने लगता है। उस समय उसके हृदयमें धर्म, पंथ या संप्रदायकी कोई स्पष्ट कल्पना नहीं होती, फिर भी वह परंपरासे प्राप्त संस्कारोंसे अपनेको अमुक धर्म अथवा अमुक संप्रदायका मानने लगता है। और थोड़ी बड़ी अवस्था होने पर उसके माता-पिता, पितामहादि यदि जैन हों तो बालकको यह समझानेका प्रयत्न करते हैं कि हम जैन कहलाते हैं। अवस्था अवलोकन और जिज्ञासाकी साथ ही साथ वृद्धि होती है। पिता पितामहादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके संतोषार्थ कहते जाते हैं कि चींटी नहीं मारनी चाहिए, बिना छाना हुआ पानी नहीं पीना चाहिए, अधिक पानी न ढोलना चाहिए–क्योंकि हम जैन कहलाते हैं। इतने शिक्षणसे किशोर-मानस इतना ही सीख सकता है कि अमुक नियमोंका पालन करना ही जैनधर्म है। वह किशोर अपने गुरुजनोंके साथ धर्मस्थानोंमें जाता है या घरपर ही धर्मगुरुओंका दर्शन करता है। तब ये धर्मगुरु कहलाते हैं, जैनगुरु ऐसे होते हैं, इनकी ऐसी वेश-भूषा होती है, इनको इस प्रकार प्रणाम करना चाहिए, आदि विधियाँ जान लेता है। अब तक तो उसने केवल जैनधर्म जैसे साधारण शब्द ही ग्रहण किये थे, उनका अर्थ भी उसने आसपासके वातावरणसे साधारण रूपसे ग्रहण किया था, अब कुछ बुद्धि होनेके साथ ही उसका शिक्षण अन्य दिशाकी ओर चला जाता है। धर्मगुरु यदि स्थानकवासी हो तो उसे ऐसी शिक्षा मिलती है कि जो मुँह-पत्ती बाँधते हैं, जो अमुक प्रकारके आचारका पालन करते हैं, वे ही सच्चे जैन गुरु हैं। बालक इतने शिक्षणके पश्चात् आगे बढ़ता है। धर्म-पुस्तकोंको पढ़ते समय पढ़ता है कि अमुक पुस्तकें ही जैनशास्त्र हैं और ये ही सच्चे धर्मशास्त्र हैं।

इसी प्रकार वह भिन्न भिन्न क्रियाकांड, उपासना और आचार जो उसके आसपास प्रचलित होते हैं उनको ही जैन क्रिया, जैन उपासना और जैन आचार कहने लगता है और क्रमशः उसके हृदयमें इन संस्कारोंकी पुष्टि होने लगती है कि जैन गुरु तो जैसे मैंने देखे हैं वैसे ही हैं, अन्य नहीं। जैन क्रिया, जैन उपासना और जैन आचार जैसे मैं मानता हूँ वे ही हैं, अन्य नहीं। इस प्रकार धर्म और जैनधर्म आदि महत्त्वपूर्ण शब्दोंके भाव उसके मनमें बहुत ही संकीर्ण रूपमें चित्रित हो जाते हैं और उमरकी वृद्धिके साथ साथ उसके सामने एक नया चित्र खड़ा होता है कि जैनधर्म ही सत्य है, अन्य सभी धर्म असत्य एवं सत्यसे पराङ्मुख हैं और जैनधर्म भी उसके लिए उसकी जन्मभूमिमें प्रचलित सम्प्रदायसे अधिक कुछ नहीं होता।

आगे जब यह किशोर तरुण होकर जिज्ञासाके वेगमें अन्य प्रकारके धर्मगुरु, अन्य प्रकारके धर्मशास्त्र, अन्य प्रकारके धर्मस्थान और अन्य प्रकारके क्रियाकांड–उपासना आदि देखता है, उनके विषयमें जानता है तब उसके सामने बड़ी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उलझन खड़ी हो जाती है। इस प्रकारकी उलझनमें उसने यह पहला ही कदम रखा है। उसको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे द्वारा स्वीकृत पंथकी अपेक्षा ये सभी भिन्न प्रकारके हैं। इन सबको जैनधर्मकी कोटिमें परिगणित कर सकते हैं या नहीं? साधारणतः ऐसी दुविधाका समाधान अयोग्य रीतिसे होता है। साम्प्रदायिक शिक्षणके द्वारा हृदयमें ये भावनाएँ बलात् भरी जाती हैं कि अमुक ही मौलिक जैन हैं, अन्य नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य असली जैन नहीं हैं किन्तु विकृत हैं। फिर तरुणकी जिज्ञासा उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है। वह पूछता है कि अमुक ही मौलिक हैं और अन्य नहीं, इसका क्या कारण है? प्रथम उसने मूर्ति एवं मन्दिरोंको धर्म-कोटिमें नहीं गिना था। पर अब तो वह प्रश्न करता है कि इन सबको और प्रथमकी अपेक्षा ज्ञात अन्य शास्त्रोंको भी जैन-शास्त्रोंकी कोटिमें क्यों नहीं गिना जाए? अब तो वह देहात या ग्रामवासी मिटकर नगरवासी बन जाता है और वहाँ वह स्थानकवासीके उपरांत श्वेतांबर मूर्तिपूजक-परंपराकी सभी विधियोंका निरीक्षण करके उसको भी जैनधर्मके प्रदेशमें परिगणित करना चाहता है और प्रथम ग्रहण किये हुए शब्दोंके भावोंका विस्तार करता है। तत्पश्चात् वह युवक विद्यापीठ या अन्य स्थलोंमें प्रथमतः अज्ञात किसी तीसरे जैन पंथके विषयमें कुछ सुनता है, जानता है कि वस्त्ररहित मुनि ही जैन गुरु कहलानेके अधिकारी हैं, वस्त्रोंसे परिवेष्टित नहीं। स्थानकवासी एवं श्वेताम्बरोंद्वारा स्वीकृत शास्त्र मूल जैन शास्त्र नहीं, ये तो बनावटी और पीछेके हैं, सच्चे जैन शास्त्र सभी लुप्त हो गये हैं। फिर भी यदि मानना हो तो अमुक अमुक आचार्योंद्वारा निर्मित शास्त्र ही मूल शास्त्रोंके समकक्ष हो सकते हैं, अन्य नहीं। मूर्ति माननी चाहिए किंतु नग्न प्रतिमा ही। जब वह युवक इस प्रकार प्रथम नहीं सुनी हुई बातोंको सुनता है या पढ़ता है, तब उसकी दुविधाका पार नहीं रहता। धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जो जो शब्द उसके हृदयमें घर किये हुए थे उनके विरुद्ध यह नया शिक्षण उसे व्यग्र कर डालता है। पर इस व्यग्रतासे भी सत्य मार्गकी प्राप्ति नहीं होती। अंतमें वह प्राप्त हुए नवीन शिक्षणको मिथ्या कहकर पुरातन पिता पितामहादिसे प्राप्त परंपरागत संस्कारोंका पोषक बन जाता है। अथवा प्रथमके संस्कारोंको एक ओर रखकर नवीन शिक्षणके अनुसार इन धार्मिक शब्दोंके अर्थकी पर्यालोचना करता है। यह तो केवल जैनियोंके मुख्य तीन विरोधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिरकोंकी विरोधी मान्यताओंमें सीमाबद्ध रहनेवाले जैनधर्मसम्बन्धी शब्दों और संकेतोंकी बात हुई। परंतु अब वह चित्र अधिक विस्तृत होता है। अब वह बालक, किशोर, कुमार या कालेजका तरुण मिटकर विश्वशालाका विद्यार्थी बनता है। उसके सामने अनेक पंथोंके अनेक रूपके धर्मगुरु, अनेक प्रकारके आचार और क्रियाकांड, अनेक प्रकारके धर्मशास्त्र और धार्मिक विचार उपस्थित होते हैं, इससे वह और अधिक उलझनमें मैं पड़ जाता है। वह कहता है कि इन सबको धर्म-प्रदेशमें गिन सकते हैं या नहीं? यदि ये धर्मकी उस कोटिमें सम्मिलित नहीं हो सकते तो क्या कारण है? यदि गिन सकते हैं तो उनको कुलधर्म अर्थात् प्रथमके जैन धर्मकी कोटिमें गिना जाए अथवा उससे हीन कोटिमें? इस दुविधाका समाधान भी हजारोंमेंसे कोई एक ही कर पाता है।

इस प्रकार जन्मसे लेकर बड़ी अवस्थापर्यंत कुलपरंपरासे प्राप्त साम्प्रदायिक भावनाके परिणामस्वरूप मनुष्यजाति भिन्न भिन्न पंथोंकी छावनियोंमें एकत्रित होकर एक दूसरेके ऊपर नास्तिकता, धर्मभ्रष्टता, मिथ्यादृष्टि, आदि धार्मिक लड़ाईकी तोपें चलाते हैं और आस्तिकता, धार्मिकता एवं सम्यग्दृष्टि आदि सर्व मान्य शब्दोंके कवचसे अपनेको सुरक्षित बनानेका पूरा प्रयत्न करते हैं। धर्मके इस युद्ध-क्षेत्रको देखकर एक विचारक चिंतनमें डूब जाता है और अपनी उलझनको अन्यके द्वारा सुलझवानेकी अपेक्षा स्वयं ही उसकी गहराईमें पैठनेका प्रयत्न करता है। बादमें तो वह विविध शास्त्रोंका अध्ययन करता है, उक्त सभी विवादग्रस्त प्रश्नोंका तटस्थ भावसे विचार करता है और उसके मनमें मनुष्यत्वके आदर्श और धर्मका परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह विचार होते ही उसका सारा भ्रम दूर हो जाता है, उलझन अपने आप ही सुलझ जाती है और इस नवीन ज्योतिके प्रकाशमें वह सांप्रदायिकता और सत्यका अंतर समझ जाता है। तब वह देखता है कि सम्प्रदाय किसी एक व्यक्तिकी विशिष्ट साधनाका प्रतीक है। इसमें तो संप्रदायके मूल प्रवर्तककी आत्मा प्रदर्शित होती है। वह आत्मा महान् होनेपर भी अन्ततः मर्यादित ही है। उसकी साधना तेजस्वी होनेपर भी अन्य दूसरे प्रकाशोंको अभिभूत या लुप्त नहीं कर सकती। यद्यपि उसकी साधनाके पीछे विद्यमान मूल प्रवर्तकके उपयोगी अनुभव हैं, फिर भी वे अन्य साधकोंकी साधना एवं अनुभवोंको व्यर्थ और अनुपयोगी सिद्ध नहीं कर सकते। वे तो केवल अपनी उपयोगिता सिद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेका ही बल रखते हैं। ऐसे व्यापक, निष्पक्ष और समन्वयगामी चिन्तन-प्रवाहमेंसे उसे ऐसी चाबी प्राप्त हो जाती है कि अब वह संप्रदाय-संप्रदाय, पंथ-पंथ और फिरके-फिरकेके बीचके छोटे बड़े सभी भेदोंके विरोधकी ग्रन्थिको एकदम सुलझा लेता है। बादमें तो वह उन स्वानुभूत सभी साम्प्रदायिक परिस्थितियोंमेंसे सिद्धान्तोंको खोज लेता है और उसे ऐसा अनुभव होता है कि संप्रदायोंमें सत्य तो है किंतु वह मर्यादित ही है। अन्य सम्प्रदायके सत्यके साथ एक सम्प्रदायके सत्यका कोई विरोध नहीं तथा दोनों सम्प्रदायोंके आंशिक सत्यका इतर तमाम संप्रदायोंके आंशिक सत्यके साथ भी कोई विरोध नहीं। ये सभी खंड सत्य एक महासत्यके अभिव्यक्त रूप हैं। उसका मन यही कहता है कि किसी मातृभक्तको अपनी माताकी उत्कृष्ट उपासनाके लिए दूसरोंकी माताकी लघुताका ढिंढोरा पीटना उचित नहीं है। स्वमाताकी पूज्यता दूसरोंकी माताको गाली दिए बिना भी सिद्ध हो सकती है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायोंके विषयमें तिरस्कार, क्षुद्रता अथवा दोष दर्शन किये बिना ही स्वसंप्रदायके प्रति पूर्ण सम्मान बुद्धिपूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है। ऐसे विचार-प्रवाहोंके स्फुरित होते ही वह साम्प्रदायिक होनेपर भी असाम्प्रदायिक हो जाता है, पंथगामी होनेपर भी सत्यगामी बनता है, और मनुष्यत्वके आदर्शके साथ पूर्ण रूपसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मपंथके विषयमें विचार करता है।

अब तो वह कुरान और पुराण दोनोंके साम्प्रदायिक अनुगामियोंके झगड़ोंको बाल-चेष्टा गिनता है और वेद, आगम, पिटक, अवेस्ता, बाइबिल आदि सभी धर्मग्रन्थोंमें दिखाई देनेवाले विरोधोंका समाधान पा जाता है। उसके सामने विश्वकी एकता, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक और धार्मिक एकताका स्पष्ट आदर्श उपस्थित होता है और दूसरोंको परस्पर विरोधी दिखाई देनेवाले इन्हीं पंथोंमेंसे उसे अभी तक साम्प्रदायिक बुद्धिसे आच्छादित एकताके पोषक तत्त्वोंका ऐतिहासिक मर्म प्राप्त हो जाता है। यदि वह जैन हो तो गीतामेंसे भी सत्य पा सकता है। वैदिक हो तो उत्तराध्ययन और धम्मपदका मर्म पान करता है। मुसलमान हो तो अवेस्ता और आगम पिटकोंमेंसे भी सत्यकी प्रेरणा प्राप्त करता है। जो धर्मदृष्टि एक बार संकुचित मार्ग और उलझनोंकी संकीर्ण गलियोंमेंसे कठिनाईसे गिरती पड़ती चलती थी वही अब बन्धनमुक्त होकर मनुष्य मात्रकी एकता सिद्ध करनेके पुण्यकार्यमें उद्यत हो जाती है।

[मूल गुजराती। अनु०—पं० महेन्द्रकुमार]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org